जैन प्रमाण-शास्त्र : एक अनुचिन्तन

□ **डॉ० दरबारीलाल कोठिया, न्यायाचार्य,**

(चमेली कुटीर, १/१२८ डुमराव कॉलोनी, अस्सी, वाराणसी)

'नीयते परिच्छिद्यते ज्ञायते वस्तुतत्त्वं येन सो न्यायः' इस न्याय शब्द की व्युत्पत्ति के आधार पर न्याय उसे कहा गया है, जिसके द्वारा वस्तुस्वरूप जाना जाता है। तात्पर्य यह कि वस्तुस्वरूप के परिच्छेदक साधन (उपाय) को न्याय कहते हैं। न्याय के इस स्वरूप के अनुसार कुछ दार्शनिक 'लक्षण-प्रमाणाभ्यामर्थ-सिद्धिः'[1]—लक्षण और प्रमाण दोनों से वस्तु की सिद्धि मानते हैं। अतः वे लक्षण और प्रमाण दोनों को न्याय बतलाते हैं। अन्य दार्शनिक 'प्रमाणैरर्थ-परीक्षणं न्यायः'[2] —प्रमाणों (प्रत्यक्ष अनुमान, उपमान और शब्द—चारों) से वस्तु का परीक्षण (सही ज्ञान) होता है, अतएव प्रमाणों को वे न्याय कहते हैं। अनेक तार्किक 'पंचावयवप्रयोगो न्यायः'[3]—पाँच अवयवों (प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन इन अनुमानावयवों) के प्रयोग को, जिसे अनुमान कहा गया है, न्याय स्वीकार करते हैं।

जैन तार्किक गृद्धपिच्छ (उमास्वाति अथवा उमास्वामी ने) 'प्रमाणनयैरधिगमः' (त० सू० १-६) सूत्र द्वारा प्रमाणों और नयों से वस्तु का ज्ञान माना है। फलतः अभिनव धर्मभूषण[4] ने 'प्रमाणनयात्मको न्यायः' कहकर प्रमाण और नय को न्याय कहा है। अतः जैन दर्शन में प्रमाण और नय दोनों वस्त्वधिगम के साधन होने से न्याय हैं। इसका विशेष विवेचन हमने 'जैन दर्शन और प्रमाणशास्त्र परिशीलन' में किया है।[5]

प्रमाण का स्वरूप

जैनागमों[6] में ज्ञान मार्गणा का निरूपण करते हुए आठ ज्ञानों का प्रतिपादन किया गया है। इनमें तीन ज्ञानों (कुमति, कुश्रुत और कुअवधि—विभंग) को मिथ्याज्ञान और पाँच ज्ञानों (मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल) को सम्यग्ज्ञान बतलाया है। कुन्दकुन्द ने[7] उसका अनुसरण किया है। गृद्धपिच्छ ने[8] उसमें कुछ नया मोड़ दिया है। उन्होंने मति आदि पाँच ज्ञानों को सम्यग्ज्ञान और कुमति आदि तीनों को मिथ्याज्ञान तो कहा ही है। इसके साथ ही उन सम्यग्ज्ञानों को प्रमाण और उन तीन मिथ्याज्ञानों को अप्रमाण भी प्रतिपादन किया है। समन्तभद्र ने[9] तत्त्वज्ञान अथवा स्वपरावभासी बुद्धि को प्रमाण कहा है। उनके इन दोनों प्रमाण लक्षणों तथा तत्त्वार्थसूत्रकार के प्रमाण लक्षण

१-२-३. न्याय दी० टि०, पृ० ५, वीर सेवा मन्दिर, दिल्ली, १९५४.

४. वही, पृ० ५.

५. जैन दर्शन और प्रमाणशास्त्र : ऐतिहासिक एवं दार्शनिक पृष्ठभूमि शीर्षक, पृ० १५,

६. षट्खण्डागम १. १. १५ आदि।

७. नियमसार, गा० १०, ११, १२.

८. त० सू० १-९, १०, ३१.

९. आप्तमीमांसा १०१, स्वयम्भूस्तोत्र ६३.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में कोई अन्तर नहीं है। सम्यक् और तत्त्व दोनों का एक ही अर्थ है—सत्य—यथार्थ। अतः सम्यग्ज्ञान या तत्त्वज्ञान को प्रमाण लक्षण मानना एक ही बात है। न्यायावतारकार सिद्धसेन ने[1] भी स्वपरावभासि ज्ञान को ही प्रमाण माना है। उनकी विशेषता यह है कि उसमें उन्होंने बाधविवर्जित विशेषण और दिया है। किन्तु वह तत्त्वार्थसूत्रकार के सम्यक् और समन्तभद्र के तत्त्व विशेषण से गतार्थ हो जाता है। उनका यह विशेषण कुमारिल के प्रमाण लक्षण में भी उपलब्ध होता है। अतः उससे कोई विशेष बात प्रकट नहीं होती।

उत्तरवर्ती प्रायः सभी जैन तार्किकों ने सम्यग्ज्ञान को ही प्रमाण कहा है। विशेष यह कि अकलंक[2], विद्यानन्दि[3] और माणिक्यनन्दि[4] ने उस सम्यग्ज्ञान को स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मक सिद्ध किया और प्रमाण के लक्षण में उपयुक्त विकास किया है। वादिराज[5], देवसूरि,[6] हेमचन्द्र,[7] धर्मभूषण[8] आदि परवर्ती तार्किकों ने भी प्रायः यही प्रमाण-लक्षण स्वीकार किया है। हेमचन्द्र ने[9] यद्यपि सम्यक् अर्थ-निर्णय को प्रमाण कहा है, पर सम्यक् अर्थनिर्णय और सम्यक् ज्ञान दोनों में शाब्दिक भेद के अतिरिक्त कोई अर्थभेद नहीं है।

प्रमाण के भेद

प्रमाण के कितने भेद सम्भव और आवश्यक हैं, इस पर सर्वप्रथम तत्त्वार्थ सूत्रकार ने विचार किया है। उन्होंने स्पष्ट निर्देश किया है[10] कि प्रमाण के मूलतः दो भेद हैं—परोक्ष और प्रत्यक्ष। उपर्युक्त पाँच ज्ञानों का इन्हीं दो में समावेश करते हुए लिखा है कि आदि के दो ज्ञान—मति और श्रुत इन्द्रियादि सापेक्ष होने से परोक्ष तथा अन्य तीन ज्ञान—अवधि, मनःपर्यय और केवल इन्द्रियादि पर-सापेक्ष न होने एवं आत्ममात्र की अपेक्षा से होने के कारण प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। यह तत्त्वार्थ सूत्रकार द्वारा प्रतिपादित दो प्रमाणों की संख्या इतनी विचारपूर्ण और कुशलता से की गयी है कि इन दो प्रमाणों में ही अन्य प्रमाणों का समावेश हो जाता है। एक सूत्र[11] द्वारा ऐसे प्रमाणों का उन्होंने उल्लेख करके उन्हें मतिज्ञान के अवान्तर भेद प्रकट किया है। वे हैं—मति (इन्द्रिय-अनिन्द्रियजन्य अनुभव), स्मृति (स्मरण), संज्ञा (प्रत्यभिज्ञान), चिन्ता (तर्क) और अभिनिबोध (अनुमान)। ये पाँचों ज्ञान इन्द्रिय और अनिन्द्रिय सापेक्ष होते हैं। इन्हें अन्य भारतीय दर्शनों में एक-एक स्वतन्त्र प्रमाण स्वीकार किया गया है। पर ये सभी परापेक्ष होने से परोक्ष में ही समाविष्ट हो जाते हैं।

जैन प्रमाणशास्त्र के प्रतिष्ठाता अकलंक ने[12] भी प्रमाण के इन्हीं दो भेदों को मान्य किया है। विशेष यह कि उन्होंने प्रत्यक्ष और परोक्ष के तार्किक लक्षणों और उनके उपभेदों का भी निर्देश किया है। विशद ज्ञान को प्रत्यक्ष और अविशद ज्ञान को परोक्ष बतलाकर प्रत्यक्ष के मुख्य एवं संव्यवहार इन दो भेदों तथा परोक्ष के प्रत्यभिज्ञान आदि पाँच भेदों का उन्होंने सविस्तार निरूपण किया है। उल्लेखनीय है कि अकलंक ने[13] परोक्ष के प्रथम भेद मति (इन्द्रिय-

---

१. प्रमाणं स्वपरावभासि ज्ञानं बाधविवर्जितम्—न्यायाव० का० १.
२. लघीय० का० ६०, अकलंक ग्र०, सिंघी ग्रन्थमाला।
३. प्र० प० पृ० १, वीर सेवामन्दिर ट्रस्ट प्रकाशन, वाराणसी, १६७७.
४. प० मु० १-१.
५. प्र० नि० पृ० १.
६. प्र० न० त० १. १. २.
७. प्र० मी० १. १. २१.
८. न्या० दी०, पृ० ६, वीर सेवा मन्दिर प्रकाशन, १६४५.
९. प्र० मी० १. १. २, सिंघी ग्रन्थमाला।
१०. तत्प्रमाणे। आद्ये परोक्षम्। प्रत्यक्षमन्यत्—त० सू० १-१०, ११, १२.
११. त० सू० १-१३, १४.
१२. लघीय० १-३, प्र० सं० १-२, अकलंकग्रन्थत्रय, सिन्घी जैन ग्रन्थमाला, अहमदाबाद, १६३६.
१३. वही, १-३.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनिन्द्रियजन्य ज्ञान) को संव्यवहार प्रत्यक्ष भी निरूपित किया है। इससे उन्होंने इन्द्रिय और अनिन्द्रियजन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष कहने की अन्य लोगों (दार्शनिकों) की मान्यता का संग्रह किया है और लोकव्यवहार से उसे प्रत्यक्ष बतलाकर परमार्थ से परोक्ष ही स्वीकार किया है और इस तरह उन्होंने आगम-परम्परा का संरक्षण भी किया है। विद्यानन्दि,[१] माणिक्यनन्दि[२] प्रभृति ने भी प्रमाण के ये ही दो भेद माने हैं और अकलंक के मार्ग का पूर्णतया अनुसरण किया है।

परोक्ष का लक्षण

परोक्ष का लक्षण सबसे पहले स्पष्ट तौर पर आचार्य देवनन्दि पूज्यपाद ने[३] प्रस्तुत किया है। उन्होंने बतलाया है कि पर अर्थात् इन्द्रिय, मन, प्रकाश और उपदेश आदि बाह्य निमित्तों तथा स्वावरण कर्म-क्षयोपमशरूप अन्तरंग कारण की अपेक्षा से आत्मा में जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह परोक्ष कहा गया है। अतः मति और श्रुत दोनों ज्ञान उक्त उभय निमित्तों से उत्पन्न होने के कारण परोक्ष हैं।

अकलंकदेव[४] ने पूज्यपाद के इस लक्षण को अपनाते हुए भी परोक्ष का एक नया लक्षण, जो उनके पूर्व प्रचलित नहीं था, दिया है। वह है—अविशदज्ञान, जिसका पहले भी संकेत किया गया है। इस लक्षण के अनुसार जो ज्ञान अविशद् (अस्पष्ट—धुँधला) है, वह परोक्ष प्रमाण है। यद्यपि इन दोनों लक्षणों में तत्त्वतः कोई अन्तर नहीं है—जो परापेक्ष होगा वह अविशद् होगा ही, फिर भी अकलंक का परोक्ष लक्षण (अविशद् ज्ञान) दार्शनिक है और संक्षिप्त है तथा पूज्यपाद का परोक्ष लक्षण आगमिक है और विस्तृत है। दूसरी बात यह है कि दोनों में कार्य-कारणभाव भी है। परापेक्षता कारण है और अविशदता उसका कार्य (परिणाम) है। यह हमें ध्यान देने पर ज्ञात हो जाता है।

विद्यानन्दि ने[५] इन दोनों लक्षणों को साध्य-साधन के रूप में प्रस्तुत किया है। उनका कहना है कि परोक्ष प्रमाण परापेक्ष है, इसलिए वह अविशद् है। परोक्ष का पूज्यपादकृत परापेक्षलक्षण साधनरूप है और अकलंकदेव का परोक्षलक्षण अविशद् ज्ञान साध्यरूप है। माणिक्यनन्दि ने[६] परोक्ष के इसी अविशद् ज्ञान लक्षण को स्वीकार किया और उसे प्रत्यक्षादिपूर्वक होने से परोक्ष कहा है। परवर्ती जैनतार्किकों ने[७] अकलंकीय परोक्ष लक्षण को ही प्रायः प्रश्रय दिया है।

परोक्ष प्रमाण के भेद

तत्त्वार्थ सूत्रकार ने[८] आगम परम्परा के अनुसार परोक्ष के दो भेद किये हैं—मति और श्रुत। इन्द्रिय और मन की सहायता से होने वाला ज्ञान मतिज्ञान है तथा मतिज्ञानपूर्वक उसके बाद जो ज्ञान होता है वह श्रुतज्ञान है। परोक्ष के ये दो भेद आगमिक हैं। अकलंक ने[९] इन परोक्ष भेदों को अपनाते हुए भी उनका दार्शनिक दृष्टि से भी विवेचन किया है। उनके विवेचनानुसार परोक्ष प्रमाण के भेदों की संख्या पाँच है। तत्त्वार्थ सूत्रकार द्वारा[१०] प्रतिपादित

१. प्र० प०, पृ० २८, ४१, ४२, वीरसेवा मन्दिर ट्रस्ट प्रकाशन, वाराणसी, १९७७.
२. परी० मु० २-१, २, ३ ५, ११ तथा ३-१, २.
३. स० सि० १-१, भारतीय ज्ञानपीठ।
४. त० वा० १-११ तथा लघीय० स्वोपज्ञवृ० १-३.
५. प्र० प० पृ० ४१, वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट प्रकाशन, वाराणसी, १९७७.
६. परी० मु० ३-१, २.
७. हेमचन्द्र, प्र० मी० १. २. १ आदि।
८. आद्ये परोक्षम्, तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम्,—त० सू० १-११, १४, ३०.
९. प्र० सं०, १-२ लघीय० १-३, अकलंकग्र०, सिन्धी जैन ग्रन्थमाला, अहमदाबाद, १९३९.
१०. त० सू० १-१३.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मतिज्ञान के पाँच भेदों में से प्रथम भेद मति को निकालकर और उनमें श्रुत को सम्मिलित कर उन्होंने परोक्ष के पाँच भेद गिनाये हैं।[1] मति (अनुभव) को उन्होंने संव्यवहार प्रत्यक्ष बतलाया है। इसी से उसे परोक्ष के भेदों में ग्रहण नहीं किया और श्रुत को अविशद् होने से परोक्ष के अन्तर्गत ले लिया है। इस विवेचन या परिवर्तन में सैद्धान्तिक अथवा दार्शनिक दृष्टि से कोई बाधा नहीं है। परोक्ष के उन्होंने जो पाँच भेद बताये हैं वे ये हैं—१. स्मृति, संज्ञा (प्रत्यभिज्ञान), ३. चिन्ता (तर्क), ४. अभिनिबोध (अनुमान) और ५. श्रुत (आगम)।

पूर्वानुभूत वस्तु के स्मरण को स्मृति कहते हैं। जैसे--वह इस प्रकार से उल्लिखित होने वाला ज्ञान। अनुभव तथा स्मरणपूर्वक जो जोड़रूप ज्ञान होता है वह संज्ञा है। इसे प्रत्यभिज्ञा या प्रत्यभिज्ञान भी कहते हैं। यथा—यह वही है, अथवा यह उसी के समान है, अथवा यह उससे विलक्षण है आदि। इसके एकत्व, सादृश्य, वैसादृश्य आदि अनेक[2] भेद हैं। अन्वय (विधि) और व्यतिरेक (निषेध) पूर्वक होने वाला व्याप्ति (साध्य और साधन रूप से अभिमत दो पदार्थों के अविनाभाव सम्बन्ध) का ज्ञान चिन्ता (तर्क) है। ऊह अथवा ऊहा भी इसे कहते हैं। इसका उदाहरण है—इसके होने पर ही यह होता है और नहीं होने पर नहीं ही होता है। जैसे—अग्नि के होने पर ही धुआँ होता है और अग्नि के अभाव में धुआँ नहीं होता। इस प्रकार का ऊहापोहात्मक ज्ञान चिन्ता या तर्क कहा गया है। निश्चित साध्याविनाभावी साधन से जो साध्य का ज्ञान होता है वह अभिनिबोध अर्थात् अनुमान है। जैसे—धूम से अग्नि का ज्ञान अनुमान है। शब्द, संकेत आदि पूर्वक जो ज्ञान होता है वह श्रुत है। इसे आगम, प्रवचन आदि भी कहते हैं। जैसे—मेरु आदि शब्दों को सुनकर सुमेरु पर्वत आदि का बोध होता है। ये सभी ज्ञान परापेक्ष हैं। स्मरण में अनुभव, प्रत्यभिज्ञान में अनुभव तथा स्मरण, तर्क में अनुभव, स्मरण और प्रत्यभिज्ञान, अनुमान में लिंग दर्शन, व्याप्तिस्मरण और श्रुत में शब्द एवं संकेतादि अपेक्षित हैं, उनके बिना उनकी उत्पत्ति सम्भव नहीं है। अतएव ये और इस प्रकार के उपमान, अर्थापत्ति आदि परापेक्ष अविशद् ज्ञान परोक्ष प्रमाण माने गये हैं।

अकलंक ने इनके विवेचन में जो दृष्टि अपनायी वही दृष्टि और सरणि विद्यानन्दि, माणिक्यनन्दि आदि तार्किकों ने अनुसृत की है। विद्यानन्दि ने[3] प्रमाण-परीक्षा में और माणिक्यनन्दि ने[4] परीक्षामुख में स्मृति आदि पाँचों परोक्ष प्रमाणों का विशदता के साथ निरूपण किया है। इन दोनों मनीषियों की विशेषता यह है कि उन्होंने प्रत्येक की सहेतुक सिद्धि करके उनका परोक्ष में सप्रमाण समावेश किया है। विद्यानन्दि ने[5] इनकी प्रमाणता में सबसे सबल हेतु यह दिया है कि वे अविसंवादी हैं—अपने ज्ञात अर्थ में किसी प्रकार विसंवाद नहीं करते हैं। और जिस स्मृति आदि में विसंवाद होता है वह प्रमाण नहीं है। उसे स्मृत्याभास, प्रत्यभिज्ञाभास, तर्काभास, अनुमानाभास और आगमाभास (श्रुताभास) समझना चाहिये। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि यह प्रतिपत्ता का कर्त्तव्य है कि वह सावधानी और युक्ति आदि पूर्वक निर्णय करे कि अमुक स्मृति, प्रत्यभिज्ञा आदि निर्बाध होने से प्रमाण है और अमुक सबाध होने से अप्रमाण (प्रमाणाभास) है। इस प्रकार पाँचों ज्ञानों के प्रामाण्याप्रामाण्य का निर्णय किया जाना चाहिए। ये पाँचों ज्ञान यतः अविशद् हैं, अतः परोक्ष हैं यह भी विद्यानन्दि ने स्पष्टता के साथ प्रतिपादन किया है।

जैन तार्किक विद्यानन्दि की[6] एक महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि उन्होंने अनुमान और उसके परिकर का

---

१. लघीय० स्वोपज्ञवृ० २-१०.

२. इदमल्पं महद् दूरमासन्नं प्रांशु नेति वा।
व्यपेक्षातः समक्षेऽर्थे विकल्पः साधनान्तरम् ॥१-२१॥ लघीय०

३. प्र० प० पृ० ४१ से ६५।

४. परीक्षामुख ३, १ से ३, १०१।

५. स्मृति प्रमाणम्, अविसंवादकत्वात्, प्रत्यक्षवत् यत्र तु विसंवादः सा स्मृत्याभासा, प्रत्यक्षाभासात्—प्र० प० पृ० ४२।१।

६. प्र० प० पृ० ४५ से ५८ तक।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैसा विस्तृत निरूपण किया है वैसा स्मृति आदि का नहीं। तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक और प्रमाण परीक्षा में अनुमान का सर्वाधिक निरूपण है। पत्र परीक्षा में तो प्रायः अनुमान का ही शास्त्रार्थ उपलब्ध है।

विद्यानन्दि ने[1] अनुमान का वही लक्षण दिया है जो अकलंक ने[2] प्रस्तुत किया है। अकलंकदेव ने बहुत ही संक्षेप में अनुमान का लक्षण देते हुए लिखा है कि साधनात्साध्यविज्ञानमनुमानम् अर्थात् साधन से होने वाला साध्य का ज्ञान अनुमान है। विद्यानन्दि ने उनके इसी लक्षण को दोहराया है तथा साध्य और साधन का विवेचन भी उन्होंने अकलंक प्रदर्शित दिशानुसार किया है। साधन[3] वह है जो साध्य का नियम से अविनाभावी है। साध्य के होने पर ही होता है और साध्य के अभाव में नहीं ही होता। ऐसा अविनाभावी साधन ही साध्य का अनुमापक होता है, अन्य नहीं। त्रिलक्षण, पंचलक्षण आदि हेतु लक्षण सदोष होने से युक्त नहीं है।[4] इस विषय का विशेष विवेचन हमने अन्यत्र[5] किया है। साध्य वह है जो इष्ट-अभिप्रेत, शक्य-अबाधित और अप्रसिद्ध होता है। जो अनिष्ट है, प्रत्यक्ष आदि से बाधित है और प्रसिद्ध है वह साध्य सिद्ध करने योग्य नहीं होता। वस्तुतः जिसे सिद्ध करना है उसे वादी के लिए इष्ट होना चाहिए—अनिष्ट को कोई सिद्ध नहीं करता। इसी तरह जो बाधित है—सिद्ध करने के अयोग्य है उसे भी सिद्ध नहीं किया जाता। तथा जो सिद्ध है उसे पुनः सिद्ध करना निरर्थक है—प्रतिवादी जिसे नहीं मानता, वादी उसे ही सिद्ध करता है। इस प्रकार निश्चित साध्याविनाभावी साधन (हेतु) से जो इष्ट, अबाधित और असिद्ध रूप साध्य का विज्ञान (विशिष्ट ज्ञान) किया जाता है वह अनुमान प्रमाण है।[6]

इसके दो भेद हैं—स्वार्थानुमान और परार्थानुमान। अनुमाता जब स्वयं ही निश्चित साध्याविनाभावी साधन से साध्य का ज्ञान करता है तो उसका वह ज्ञान स्वार्थानुमान कहा जाता है। उदाहरणार्थ—जब वह धूम को देखकर अग्नि का ज्ञान, रस को चखकर उसके सहचर रूप का ज्ञान या कृत्तिका के उदय को देखकर एक मुहूर्त बाद होने वाले शकट के उदय का ज्ञान करता है तब उसका ज्ञान स्वार्थानुमान है। और जब वही स्वार्थानुमाता उक्त हेतुओं और साध्यों को बोलकर दूसरों को उन साध्य-साधनों की व्याप्ति (अन्यथानुपपत्ति) ग्रहण कराता है और दूसरे उसके उक्त वचनों को सुनकर व्याप्ति ग्रहण करके उक्त हेतुओं से उक्त साध्यों का ज्ञान करते हैं तो दूसरों का वह अनुमान ज्ञान परार्थानुमान है।

धर्मभूषण ने[7] स्वार्थानुमान और ज्ञानात्मक परार्थानुमान के सम्पादक तीन अंगों और दो अंगों का भी प्रतिपादन किया है। वे तीन अंग हैं—(१) साधन, (२) साध्य और (३) धर्मी। साधन तो गमकरूप से अंग है, साध्य गम्यरूप से और धर्मी दोनों का आधार रूप से। दो अंग इस प्रकार उन्होंने बतलाये हैं—(१) पक्ष और (२) हेतु। जब साध्यधर्म को धर्मी से पृथक् नहीं माना जाता—उससे विशिष्ट धर्मी को पक्ष कहा जाता है तो पक्ष और हेतु ये दो ही अंग विवक्षित होते हैं। इन दोनों प्रतिपादनों में मात्र विवक्षा भेद है—मौलिक कोई भेद नहीं है। वचनात्मक परार्थानुमान के प्रतिपाद्यों की दृष्टि से दो, तीन, चार और पाँच अवयवों का भी कथन किया गया है। दो अवयव पक्ष (प्रतिज्ञा) और हेतु हैं। उदाहरण सहित तीन, उपनय सहित चार और निगमन सहित पाँच अवयव हैं।

यहाँ उल्लेखनीय है कि विद्यानन्दि ने[8] परार्थानुमान के अक्षरश्रुत और अनक्षरश्रुत दो भेदों को प्रकट करते

---

१. प्र० प० पृ० ४५, वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट, १९७७।
२. साधनात्साध्यविज्ञानमनुमानं तदत्यये—न्या० वि० द्वि० भा० २।१।
३. तत्र साधनं साध्याविनाभावनियमनिश्चयैकलक्षणम्, प्र० प० पृ० ४५।
४. प्र० प० पृ० ४५ से ४९।
५. जैन तर्कशास्त्र में अनुमान विचार, पृ० ९२, वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट प्रकाशन, १९६९।
६. न्याय विनि० २-१७२ तथा प्र० प० पृ० ५७।
७. न्याय दी० पृ० ७२, ३—२४।
८. प्र० प० पृ० ५८, संस्करण पूर्वोक्त ही।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हुए उसे अकलंक के अभिप्रायानुसार श्रुतज्ञान बतलाया है और स्वार्थानुमान को अभिनिबोधरूप मतिज्ञानविशेष अनुमान कहा है। आगम की प्राचीन परम्परा यही है।[1]

श्रुतज्ञानावरण और वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम विशेष रूप अन्तरंग कारण तथा मतिज्ञानरूप बहिरंग कारण के होने पर मन के विषय को जानने वाला जो अविशद ज्ञान होता है वह श्रुत ज्ञान है।[2] अथवा आप्त के वचन, अँगुली आदि के संकेत से होने वाला अस्पष्ट ज्ञान श्रुत (आगम) है। यह सन्तति की अपेक्षा अनादिनिधन है। उसकी जनक सर्वज्ञ परम्परा भी अनादिनिधन है। बीजांकुरसन्तति की तरह दोनों का प्रवाह अनादि है। अतः सर्वज्ञोक्त वचनों से उत्पन्न ज्ञान श्रुत है और वह निर्दोष पुरुषजन्य एवं अविशद होने से परोक्ष प्रमाण है। इस प्रकार परोक्ष प्रमाण के पाँच भेद हैं।

प्रत्यक्ष

अब दूसरे प्रमाण प्रत्यक्ष का भी संक्षेप में विवेचन किया जाता है। जो इन्द्रिय, मन, प्रकाश आदि पर की अपेक्षा से न होकर मात्र आत्मा की अपेक्षा से होता है वह प्रत्यक्ष ज्ञान है।[3] आगम परम्परा के अनुसार प्रत्यक्ष का यही स्वरूप निर्दिष्ट किया गया है। तत्त्वार्थ सूत्रकार और उनके आद्य टीकाकार पूज्यपाद—देवनन्दि ने प्रत्यक्ष का यही लक्षण बतलाया है।[4] अकलंकदेव ने[5] प्रत्यक्ष के इस लक्षण को आत्मसात् करते हुए उसका एक नया दूसरा भी लक्षण प्रस्तुत किया है, जो दार्शनिकों द्वारा अधिक ग्राह्य और लोकप्रिय हुआ है। वह है विशदता—स्पष्टता। जो ज्ञान विशद अर्थात् अनुमानादि ज्ञानों से अधिक विशेष प्रतिभासी है वह प्रत्यक्ष है।[6] उदाहरणार्थ, अग्नि है ऐसे किसी विश्वस्त व्यक्ति के वचन से उत्पन्न अथवा वहाँ अग्नि है, क्योंकि धुआँ दिख रहा है ऐसे धूमादि साधनों से जनित अग्नि के ज्ञान से यह (सामने) अग्नि है, अग्नि को देखकर हुए अग्निज्ञान में जो विशेष प्रतिभासरूप वैशिष्ट्य अनुभव में आता है उसी का नाम विशदता है। और यह विशदता ही प्रत्यक्ष का लक्षण है। तात्पर्य यह है कि जहाँ अस्पष्ट ज्ञान परोक्ष है वहाँ स्पष्ट ज्ञान प्रत्यक्ष है। प्रत्यक्ष और परोक्ष ज्ञानों की भेदक रेखा यह स्पष्टता और अस्पष्टता ही है। उत्तरवर्ती सभी जैन दार्शनिकों ने प्रत्यक्ष का यही लक्षण स्वीकार किया है। विद्यानन्दि ने विशदता का विशेष विवेचन किया है। प्रत्यक्ष के भेदों का भी उन्होंने काफी विस्तारपूर्वक निरूपण किया है।[7] उन्होंने बतलाया है कि प्रत्यक्ष तीन प्रकार का है—१. इन्द्रियप्रत्यक्ष, २. अनिन्द्रिप्रत्यक्ष और ३. अतीन्द्रियप्रत्यक्ष। इन्द्रियप्रत्यक्ष प्रारम्भ में चार प्रकार का है—१. अवग्रह, २. ईहा, ३. अवाय और ४. धारणा। ये चारों पाँचों इन्द्रियों और बहु आदि बारह अर्थभेदों के निमित्त से होते हैं। अतः ४×५×१२=२४० भेद अर्थावग्रह की अपेक्षा से हैं तथा व्यंजनावग्रह चक्षु और मन से नहीं होता। किन्तु स्पर्शन, रसना, घ्राण और श्रोत्र इन चार इन्द्रियों से बहु आदि बारह अर्थभेदों में होता है, इसलिए उसके १×४×१२=४८ भेद निष्पन्न होते हैं। इस तरह इन्द्रियप्रत्यक्ष के २४०+४८=२८८ भेद हैं।

---

१. विशेष के लिए देखें, जैन तर्कशास्त्र में अनुमान विचार, पृ० ७७-७८, संस्करण पूर्वोक्त।

२. प्र० प० पृ० ५८।

३. स० सि० १. १२, भा० ज्ञानपीठ सं०।

४. वही।

५. प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानं मुख्यसंव्यवहारतः—लघी० १. ३, अकलंक ग्र०।

६. अनुमानाद्यतिरेकेण विशेषप्रतिभासनम्।
तद्वैशद्यं मतं बुद्धेरवैशद्यमतः परम्॥ —लघीय० १. ४, अकलंक ग्र०।

७. तत् त्रिविधम्—इन्द्रियानिन्द्रियातीन्द्रियप्रत्यक्षविकल्पात्। तत्रेन्द्रियप्रत्यक्षं सांव्यावहारिकं देशतो विशदत्वात्। तद्वदनिन्द्रियप्रत्यक्षम्, तस्यान्तर्मुखाकारस्य कथंचिद्वैशद्यसिद्धेः। अतीन्द्रियप्रत्यक्षं तु द्विविधं विकलप्रत्यक्षं सकलप्रत्यक्षं चेति। ···· ।—प्र० प० पृ० ३८, संस्करण पूर्वोक्त।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनिन्द्रियप्रत्यक्ष केवल मन से उक्त बारह अर्थभेदों में होता है और अवग्रह आदि चारों रूप होता है। अतः उसके १×४×१२=४८ भेद हैं। इस प्रकार इन्द्रियप्रत्यक्ष और अनिन्द्रियप्रत्यक्ष के कुल २८८+४८=३३६ भेद हैं। यतः ये दोनों प्रत्यक्ष मतिज्ञान अथवा संव्यवहारप्रत्यक्ष हैं, अतः ये ३३६ भेद उसके जानना चाहिए। अतीन्द्रियप्रत्यक्ष के दो भेद हैं—१. विकल और २. सकल। विकल अतीन्द्रियप्रत्यक्ष के भी दो भेद हैं—१. अवधि और २. मनःपर्यय। सकल अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष एक ही प्रकार का है और वह है—केवलज्ञान। इनका विशेष विवेचन प्रमाण परीक्षा में उपलब्ध है।[1]

इस प्रकार जैन दर्शन में प्रमाण के मूलतः प्रत्यक्ष और परोक्ष ये दो ही भेद माने गये हैं।

प्रमाण का विषय

जैन दर्शन में वस्तु अनेकान्तात्मक स्वीकार की गयी है। अतः प्रत्यक्ष प्रमाण हो, चाहे परोक्ष (अनुमानादि) प्रमाण, सभी सामान्य-विशेषरूप, द्रव्य-पर्यायरूप, भेदाभेदरूप, नित्यानित्यरूप आदि अनेकान्तरूप वस्तु को विषय करते अर्थात् जानते हैं। केवल सामान्य, केवल विशेष आदि रूप वस्तु को कोई प्रमाण विषय नहीं करते, क्योंकि वैसी (एकान्तरूप) वस्तु नहीं है। वस्तु तो विरोधी नानाधर्मों को लिए हुए अनेकान्तरूप है और वही प्रमाण का विषय है।

प्रमाण का फल

प्रमाण का फल अर्थात् प्रयोजन वस्तु को जानना और प्रमाता के अज्ञान को दूर करना है।[2] यह उसका साक्षात् फल है। वस्तु को जानने के उपरान्त उसके उपादेय होने पर उसमें ग्रहण बुद्धि, हेय होने पर उसमें हेयबुद्धि और उपेक्षणीय होने पर उपेक्षा (तटस्थता) बुद्धि होती है। ये बुद्धियाँ प्रमाण का परम्परा फल हैं। प्रत्येक प्रमाता को ये दोनों फल प्राप्त होते हैं। स्मरण रहे, ये दोनों फल प्रमाण तथा प्रमाता से कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न हैं। दोनों एक ही प्रमाता को होते हैं, इसलिए अभिन्न हैं और प्रमाण तथा फल का भेद होने से वे प्रमाण और फल कथंचित् भिन्न हैं।

नय

प्रमाण का विवेचन करने के बाद यहाँ नय का भी विवेचन आवश्यक है, क्योंकि प्रमाण की तरह नय भी वस्तु के ज्ञान का अपरिहार्य साधन है। जहाँ पदार्थों (वस्तुओं) का यथार्थ ज्ञान प्रमाण द्वारा अखण्ड (समग्र अनेकान्त) रूप में होता है वहाँ नय द्वारा उनका ज्ञान खण्ड-खण्ड (एक-एक धर्म—एकान्त) रूप में होता है।[3] धर्मी (पूर्णवस्तु) का ज्ञान प्रमाण और धर्मों-अंशों का ज्ञान नय है। दूसरे शब्दों में विवक्षा या अभिप्राय के अनुसार होने वाला अंशग्राही ज्ञान नय है। यह नय भी मूलतः दो प्रकार का है—१. द्रव्यार्थिक और २. पर्यायार्थिक। द्रव्यार्थिकनय द्रव्य (वस्तु के शाश्वत अंश) को और पर्यायार्थिक पर्याय (वस्तु के अशाश्वत अंश—उत्पाद-व्यय) को ग्रहण करता है। अध्यात्म शास्त्र की दृष्टि से निश्चयनय और व्यवहारनय इन दो नयों का प्रतिपादन किया गया है। निश्चयनय वस्तु के असंयोगीरूप (भूतार्थ) को और व्यवहारनय संयोगीरूप (अभूतार्थ) को ग्रहण करते हैं। इन नयों के अवान्तर भेदों का निरूपण जैनशास्त्रों में विपुल मात्रा में पाया जाता है। इस प्रकार प्रमाण और नय दोनों से वस्तुपरिच्छिन्न होने से वे न्यायशास्त्र अथवा प्रमाणशास्त्र के प्रतिपाद्य हैं। हमने यहाँ उनका संक्षेप में अनुचिन्तन करने का प्रयास किया है।

---

१. प्र० प०, पृ० ६५.
२. प्र० प०, पृ० ६६.
३. लघीय० का० ३०-४६.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org